तीर्थयात्राकी वाल्लभसंप्रदायानुसारी ऐतिहासिक–शास्त्रीय एवं साम्प्रदायिक समीक्षा

मैत्री गोस्वामी

नम: श्रीवल्लभाचार्य चरणाब्जनखेन्दवे।
कलिकल्मषघातिन्यै तद्वाण्यै च नमो नम:।।

⁎उपक्रम

'तीर्थी कुर्वन्ति इति तीर्थानि, अर्थात् तीर्थ शब्दसे तात्पर्य है पावन–पवित्र करनेवाला स्थान. तीर्थ दो प्रकारके होते हैं– (१) स्थावर तीर्थ, (२) जंगम तीर्थ. स्थावर तीर्थोसे तात्पर्य है नदी, पर्वत, आदि स्थिर भौतिक स्वरूपोंका तीर्थरूप होना तथा जंगम तीर्थसे तात्पर्य है महापुरुषोंसे जो स्थिर नहीं, अपितु चलायमान व्यक्ति अथवा संपत्तिका तीर्थरूप होना. यद्यपि इस आलेखपत्रमें यात्राके हेतुसे तीर्थोंका विचार अपेक्षित होनेसे जंगमतीर्थोंका विचार प्रसक्त नहीं होनेसे स्थावर तीर्थोंके विषयमें भक्तिसंप्रदायके प्रर्वतक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मतका विचार किया जाएगा. श्रीवल्लभाचार्यने तीर्थोंके अनेक पक्षोंका विचार किया है, यथा तीर्थोंका भौतिक–आध्यात्मिक एवं आधिदैविक पक्ष, तीर्थोंका मोक्षदातृत्व, सकामोपासकको प्राप्त होते फल, तीर्थोंकी पापमोचकता, भक्तिवृद्ध्यर्थ तीर्थयात्रा, भगवदीयव्यासंगप्राप्त्यर्थ यात्रा, नवधाभक्तिके अंगतया तीर्थयात्राका स्वरूप, एकांतवासार्थ तीर्थयात्रा, गृहत्यागपूर्वक आजीवन तीर्थपर्यटन आदि. इन सभी पक्षोंका विचार प्रस्तुत आलेखपत्रमें तीन बिंदुओंके अंतर्गत किया जाएगा– (१) सम्प्रदायाके पूर्वाचार्यों एवं वैष्णवोंके वृत्तांतमें प्राप्त होता तीर्थयात्राओंका ऐतिहासिक विमर्श, (२) महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा किया गया तीर्थयात्राके शास्त्रीयपक्ष पर विचार एवं (३) सम्प्रदायके दीक्षार्थी हेतु आचार्यचरण द्वारा किये गए तीर्थयात्रा संबंधी निर्देश.

⁎संप्रदायके पूर्वाचार्य एवं वैष्णवोंके चरित्रोंमें दृष्टिगोचर होता तीर्थयात्राका स्वरूप

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अपने प्राकट्यके हेतुका निर्देश करते हुए आज्ञा करते हैं,

श्रीमद्भागवतागम: सुरतरुर्लोके फलत्वं गतो। भाषाभेदविभेदतस्त्रयमपि स्यान्नो विरुद्धं महत्।
भक्त्यंशे फलता प्रमाणसुबले वेदत्वमर्थे पुन:। स्कन्धैर्द्वादशभिर्युत: सुरतरु: शाखाद्विवह्निद्वयम्।
अर्थं तस्य विवेचितुं न हि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पते:। अन्य: तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवत् श्रीपति:।
दत्वाऽऽज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा। गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णो: प्रियम्।। (भाग.सु.१।१।४–५)

अर्थात् वेदके अर्थ–तात्पर्यको प्रकट करनेके हेतुसे भगवानके ज्ञानावतार श्रीव्यासजी प्रकट हुए, उसी प्रकार जब वेदादि शास्त्रोंके निर्गलित फलस्वरूप श्रीमद्भागवतशास्त्र निरूपित दशविधलीलाओंके अर्थको प्रकट करने योग्य कोई नहीं था, तब भगवद् आज्ञासे भागवतके अर्थको प्रकट करते हुए, परब्रह्म भगवान पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णके मुखावताररूप वाक्पति श्रीवल्लभाचार्य निर्गुण भागवतमार्गके प्रकटनार्थ वि.सं.१५३५की चैत्र वद एकादशीको कांकरवाड(आंध्रप्रदेश) के सोमयाजी विष्णुस्वामी संप्रदाय मतानुवर्ती तैलंग ब्राह्मणकुलके श्रीलक्ष्मणभट्टजीके पुत्रके रूपमें अवतरित हुए. प्राकट्योपरांत ११ वर्षकी आयुमें भक्तिमार्गके प्रचारार्थ एवं अपने अवतारकार्यको चरितार्थ करनेके हेतुसे आपने भगवान द्वारा वृणीत कृपापात्र दैवीजीवोंके उद्धारार्थ भारतके सभी विष्णुतीर्थोंका परिभ्रमण आरंभ किया. सर्वप्रथम आप श्रीजगन्नाथपुरी पधारे, जहां विद्वानोंकी चर्चासभामें चर्चित चार प्रश्न – सर्वश्रेष्ठ देव कौन? सर्वश्रेष्ठ मन्त्र कौनसा? सर्वश्रेष्ठ शास्त्र कौनसा? एवं सर्वश्रेष्ठ कर्म

क्या? – का उत्तर दिया तथा संदेह निवृत्त करवानेके लिए भगवान श्रीजगन्नाथरायजीने श्रीहस्तसे लिखित श्लोक – **एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतं। एको देवो देवकीपुत्र एव। मन्त्रोप्येक: तस्य नामानि यानि। कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।** प्रस्तुत करते हुए अपना विशुद्ध मत स्थापित किया. इस प्रसंगका उल्लेख आपने अपने ग्रंथ तत्त्वार्थदीपनिबंधके उपक्रममें किया है.

तदुपरांत जगन्नाथपुरीसे भगवान श्रीकृष्णकी लीलास्थली व्रजमंडल, काशी, हरिद्वार, बद्रिकाश्रम, यमनोत्री, द्वारिकापुरी, नारायणसरोवर, पंढरपुर, नाशिक, वरकला, श्रीरंगजी, आदि संपूर्ण भारतवर्षके सभी स्थानोंपर पधारते हुए ३ बार भारतभ्रमण करते हुए दैवीजीवोंको अंगीकार किया, अपने संप्रदायके मूल सिद्धांतोंका स्थापन किया, श्रीमद्भागवतके सप्तविध अर्थको प्रकट करते हुए श्रीसुबोधिनी टीका लिखी तथा विद्वत्सभाओंमें शास्त्रार्थ करते हुए मायावादका खंडन एवं साकारब्रह्मवादका स्थापन किया. काशीमें विद्वानोंके निरंतर शास्त्रार्थ हेतु आते रहनेके कारण पत्रावलंबन नामक लघुग्रंथकी रचना करते हुए काशीविश्वनाथ महादेवके मंदिरके मुख्य द्वारके उपर लगवाकर घोषणा की, कि जो कोई भी विद्वान शास्त्र संबंधी जिज्ञासा अथवा चर्चा करना चाहता हो, वह सर्वप्रथम पत्रावलंबन ग्रंथका अवलोकन करे तथा तदुपरांत ही शास्त्रार्थ हेतु आये. इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यजीके प्राप्त होते वृत्तांतोंसे ज्ञात होता है कि तीर्थोंका पर्यटन आपने प्रचलित प्रकारों तथा हेतुओंसे विपरीत मार्गस्थापन द्वारा दैवीजीवोंके उद्धारार्थ तथा पाखंड मतोंके खंडन द्वारा शुद्ध वैदिकमार्गके मंडनार्थ किया.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी अनेक बार श्रीजगन्नाथपुरी, व्रजमंडल आदि भगवद्स्थानोंमें पधारे एवं आपका तिरोधान भी स्वयं श्रीजगदीशमें ही हुआ. उसी प्रकार आपके द्वितीय पुत्र श्रीविठ्ठलनाथजीने प्रभुकी लीलास्थलीरूप व्रजमंडलमें ही नित्य निवास किया एवं ६ बार द्वारिकापुरी भी दैवीजीवोंके उद्धारार्थ ही पधारे. इस प्रकार मार्गस्थापनार्थ प्रकट आचार्योंके लिए तीर्थस्थान दैवीजीवोंको प्राप्त करनेका एवं शास्त्रचर्चा, विद्वानोंका संग, सिद्धांत स्थान आदि प्राप्त करनेका स्थान होनेसे तीर्थयात्राका प्रयोजन सामान्य प्रजासे भिन्न तथा विलक्षण ही प्रतीत होता है.

आचार्यचरणोंके अलावा आपश्रीके सेवकवर्गोंमें नरहरि संन्यासीने अपने बाल्यकालमें ही गृहत्याग भगवद्प्राप्तिके हेतुसे किया था तथा व्रजमंडलमें स्थित साक्षात् भगवद्रूप श्रीगोवर्धनकी तरहटीमें महाप्रभुसे मिलाप होनेपर आपके शिष्य हुए तथा आजीवन पर्यटन परायण ही रहे. उसी प्रकार अच्युतदास सनोढिया भी आपके सन्यासी शिष्य हुए. सूरदासजी, कुंभनदासजी, परमानंददासजी आदि महाप्रभुके शिष्य गृहसेवाकी अनुकूलता न होनेके कारण जतिपुरामें श्रीगिरिराजजीके निकटवर्ती स्थानोंमें ही आपकी आज्ञासे आजीवन रहे. इस प्रकार सम्प्रदायके ऐतिहासिक वृत्तांतोंसे प्राप्त होते उदाहरणोंमें पापमोचन, मोक्षप्राप्ति आदि सकाम हेतुओंसे नहीं, अपितु मार्गस्थापन, शास्त्रप्रचार, भगवदीयसंग, भगवद्व्यासंग आदि हेतुओंसे तीर्थमें किये गए निवास एवं पर्यटनका प्रकार प्राप्त होता है, जिसका अधिक विचार संप्रदायमें विहित यात्राके प्रकारोंका विचार करनेपर स्पष्ट होगा.

❊वल्लभसम्प्रदायानुसारी तीर्थयात्राके शास्त्रीय पक्षकी समीक्षा

वैदिक, स्मार्त, पौराणिक एवं तान्त्रिक विधानोंकी परंपरामें श्रीवल्लभाचार्यानुसार पूर्व-पूर्व बलवान एवं उत्तरोत्तर गौण हैं. वैदिक नित्य-नैमित्तिक कर्माधिकारी ब्रह्मचर्य-गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रम पर्यन्त अग्निहोत्रादि कर्मोमें प्रवृत्त होनेसे नित्य अग्निहोत्रीके लिए तीर्थाटन वर्जित एवं अनपेक्षित है. आजीवन अग्निधारण करनेका नीयम होनेसे यह साधन उसके लिए गौण भी है तथा असंभव भी. स्मार्त धर्मोंका अवलोकन करनेपर प्रायश्चित्तार्थ तीर्थाटनके विधान प्राप्त होते हैं. महाप्रभु व्रत-तीर्थादि आचारोंके पुराणमूलक होनेका निरूपण करते हुए आज्ञा करते हैं–

व्रततीर्थादिकं काम्यं नित्ववद् बोध्यते क्वचित्। पूर्वाचारेण सम्प्राप्तं पुराणं मूलमस्य हि।। श्रुतिमूलत्वे ब्राह्मणानाम् अपि नित्यं कर्तव्यानि स्युः इति काम्यम् इति उक्तम्। किन्तु वेदान् अधिकृतानां तं नित्यं भवति इति नित्यवद् बोध्यते। तस्य च मूलं पुराणम्। तथा सति स्मृतित्वं कथम्? इति चेत् तत्र आह पूर्वाचारेण सम्प्राप्तम् इति। न हि पुराणं दृष्ट्वा तस्य निर्माणं किन्तु आचारात् एव। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२।३८)

अर्थात् व्रत तथा तीर्थादिकोंमें गमन संबंधी धर्म जो स्मृतियोंमें कहे गए हैं उन धर्मोंका मूल पुराण है. ये धर्म अग्निहोत्रीके लिए नित्य नहीं है, क्योंकि अग्निहोत्रीको अग्नि छोडकर विदेशगमन निषिद्ध है. तथा **नैषां सिद्धिरनश्नताम् (वसिष्ट.स्मृति.६।१८)** इत्यादि वाक्योंमें उपवासादिका भी निषेध है. अत: ये धर्म काम्य कहे जाते हैं. परंतु वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म जो नहीं करते हैं, उनके लिए तो ये धर्म नित्य ही हैं. अत: नित्यकर्मके समान व्रत-तीर्थादिकोंकी नित्यकर्तव्यरूपताका निरूपण किया गया है. व्रत-तीर्थादिक यदि पुराणमूलक हैं तो इनकी स्मृतिरूपता कैसे संभव है? यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पुराणोंको देखक स्मृतिशास्त्र नहीं बनाए गए हैं, अपितु पूर्वकल्पके सदाचारका स्मरण करते हुए इन्हें लिखा गया है. अत: व्रत-तीर्थादि प्रतिपादक स्मृति आचारमूलिका स्मृतिविभाग है, वेदमूलिका नहीं.

पुराण एवं तन्त्रग्रंथ उपासनापरक होनेसे उपासक द्वारा वृणीत देवके स्थानोंमें जाना, वहां स्नान, पूजन, अर्चन आदि संबंधी विधान प्राप्त होते हैं. पंचदेवोपासक एवं एकदेवनिष्ठ उपासकके भेदसे तीर्थाटनके विधान प्राप्त होते हैं. तंत्रानुसारी प्रणालीमें वैष्णव, शैव, शाक्त तथा सौर्य, इन चार संप्रदायोंमेंसे दीक्षार्थी जिस किसी देवकी उपासनार्थ सम्प्रदायमें दीक्षित होता है उसके लिए अपने इष्टदेव संबंधी अर्चना, स्तोत्र-पाठ, तीर्थयात्रा, व्रतोपवास आदिका विधान किया जाता है तथा इन्हीं विधानोंके अन्तर्गत अपने इष्टदेव संबंधी तीर्थोंका पर्यटन उसके लिए उपासनाका एक अंग है तथा सकामोपासकके लिए इच्छित फलको प्राप्त करनेका एक माध्यम भी है. उपासनाके प्रकारोंके अलावा श्राद्ध, तर्पणादि क्रियाओंके लिए तीर्थस्थानोंमें जाना, चौलकर्मादि संस्कारोंके लिए तीर्थोमें जाना एवं अन्तिमकालमें तीर्थवास, ग्रहण आदिके स्नानके लिए निकटवर्ती तीर्थोमें स्नान हेतु जाना अथवा समुद्रको ही तीर्थरूप मानकर समुद्रस्नान करना, पर्व, संक्रान्ति आदि शुभतिथियोंमें स्नान, प्रायश्चित्त हेतु तीर्थयात्रा आदि नैमित्तिक कर्मोंके प्रकारोंमें भी तीर्थोंका विधान प्राप्त होता है.

सामान्य नगर, पर्वत, नदी आदिसे विशिष्ट उनके तीर्थरूप होनेका कारण उनके माहात्म्य एवं उनके आध्यात्मिक तथा आधिदैविक पक्षोंका विचार करनेपर दृष्टिगत होती है. किसी भी देशविशेषकी तीर्थरूपता किन्हीं अधिदेवके नित्य आवास अथवा पूर्वकालमें किसी प्रसंगविशेषमें देवसंबंधी किसी वृत्तांतके कारण होती है. यथा व्रजमंडलका माहात्म्य भगवान श्रीकृष्णकी लीलास्थली होनेके कारण है, बद्रीकाश्रमकी तीर्थरूपता नर-नारायणकी तपोस्थली होनेके कारण है, द्वारिकापुरी, जगन्नाथपुरी, तिरूपती बालाजी आदि स्थानोंका भी माहात्म्य पौराणिक वृत्तांत अथवा भगवानके किसी विशेष कार्यके साथ उस स्थानका संबंध होनेके कारण होती है. गंगा, यमुना, गोदावरी आदि जलरूप तीर्थ भी ऐसे ही किसी आधिदैविक संबंधके कारण पवित्र माने जाते हैं. यद्यपि पुष्टिभक्तिसंप्रदायके आद्योपासक पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं, तथा अन्य सभी देव, द्रव्य, देश, काल आदि भगवानके विभूतिस्वरूप ही होनेसे स्वतंत्र उपासना, तीर्थाश्रय, तीर्थसे प्राप्त होते फल आदि संप्रदायमें सिद्धान्ततः निषिद्ध हैं. महाप्रभु आज्ञा करते हैं,

सूर्यादिरूपधृक् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानाङ्गमीर्यते। पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिस्तथा।।
भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्ध्यै तथापि तु। आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया।।
निर्गुणा मुक्तिः अस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवया।

पुराणोक्तानां दुर्गा–गणपतिप्रभृतीनां विशिष्टशेषत्वम् आवरणदेवतात्वेन। तथापि भिन्नार्थत्वम् आशंक्य तत्तद्रूपो हरिस्तथा इति उक्तम्। साधनरूप: फलरूपश्च स्वयमेव इति एकवाक्यता।...विभूतिरूपेषु साधनानि फलानि च व्यवस्थया कृतानि, पूर्णफलदानं च स्वस्मिन्। अत: भजनं मूलरूप एव कर्तव्यम्। भगवद्व्यतिरिक्ता: सर्व एव कालपर्यन्तं सगुणा:। कालोऽपि गुणानुरोधि इति सगुणप्राय:। (तत्त्वार्थ.दी.नि.१२–१३)

अर्थात् वेदके पूर्वकाण्ड निरूपित यज्ञरूप, उत्तरकाण्ड निरूपित ब्रह्मरूप, एवं पुराण निरूपित दुर्गा, गणपति, सूर्य आदि सभी रूप भगवानकी ही विभूति हैं. इन देवोंसे प्राप्त होते फल एवं उनके साधनोंका निर्देश शास्त्रोंमें किया गया है, किंतु इन सभीसे प्राप्त होते फल एवं मुक्ति भी सगुण ही होती है क्योंकि कालपर्यन्त सभी पर्दाथ सगुण हैं, एकमात्र भगवान ही निर्गुण होनेसे उनके सायुज्यकी प्राप्ति चाहनेवाले जीवको आदिमूर्ति श्रीकृष्णका ही भजन करना चाहिए. तत्तद् देवताओंकी भक्ति एवं उपासनाके अधिकारी जीवोंको अवश्य ही शास्त्रनिरूपित साधनोंका निर्वाह करते हुए अपनी लौकिक–पारलौकिक इच्छाओंकी पूर्ति करनी चाहिए, किन्तु भगवद्भक्तिके अधिकारी जीवके लिए इनमेंसे कोइ भी प्रकार उपयुक्त नहीं है.

अत: वस्तुत: कृष्णभक्तके लिए अन्य सभी देवताओंका भजन आदि अनुपयोगी होनेसे भगवद् भक्ति व्यतिरिक्त कोई भी धर्म भगवद्भक्तको प्राप्त होते ही नहीं हैं. किन्तु शास्त्र स्वयं भगवद्वाणी होनेसे वर्णाश्रमाचारका निर्वाह भगवद्आज्ञा मानकर करनेका विधान होनेसे शास्त्र निरूपित सभी नित्य तथा नैमित्तिककर्मोंका निष्कामभावसे निर्वाह पूर्वाचार्योंने भी किया है तथा अविरुद्ध होनेपर करनेकी आज्ञा भी है, यथा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके छोटे पुत्र श्रीविठ्ठलनाथजी ग्रहणका स्नान करनेके लिए गंगाजीके घाट पर पधारे होनेका वृत्तांत प्राप्त होता है तथा महाप्रभुके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी आज्ञा करते हैं, –

नान्यदेवं व्रजेद् नैव प्रसक्तौ ह्यपमानयेत्। तीर्थेषु तीर्थदेवानां भूदेवानां समर्चनम्। (सा.दी.६८)

अर्थात् यद्यपि श्रीकृष्णके अलावा किसी भी अन्य देवकी उपासना, व्रतोपवास, तीर्थयात्रा, आदि सम्प्रदायमें अन्याश्रयरूप होनेसे निषिद्ध हैं, किन्तु यदि अन्य देव संबंधी तीर्थ अथवा देवालयमें प्रसंगवश गमन हो जाए तो शिष्ट व्यवहार करते हुए तीर्थके देव तथा तीर्थपुरोहितोंका आदर अवश्य करना चाहिए. इस प्रकार विवेकपूर्वक अन्य देव संबंधी तीर्थोंके आदरका विधान किया गया है, किन्तु संकल्प पूर्वक अन्य देवोंकी उपासना एवं वैष्णवस्थानोंके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें किया जाता तीर्थाटन निषिद्ध है.

शास्त्रवर्णित विधि अनुसार प्रतिपादित तीर्थाटनके प्रकारका निरूपण करते हुए श्रीवल्लभाचार्य आज्ञा करते हैं कि,

वर्णाश्रमयुक्तानाम् अपि वर्णाश्रमधर्मै: तीर्थानि विकल्प्यन्त इति आह यज्ञा: इति।
यज्ञास्तीर्थानि च पुन: समानि हरिणा कृता:।
भारते हि यज्ञानां तीर्थानां च तुल्यता निरूपिता। तत्र अटनप्रकारम् आह।
तीर्थप्रवेशादिवसेतु उपवास:। अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रम् अपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं, न तु तत: अधिकम्।
अटनस्य नित्यत्वात् न चिरकालं स्थिति:। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२।२४८)

अर्थात् वर्णाश्रमधर्मोंका आचरण करनेवाले त्रैवर्णिकाधिकारीको भी तीर्थाटन अनुकल्पतया प्राप्त है. महाभारतमें तीर्थ तथा यज्ञको समान माने गए हैं. भगवानने भी तीर्थयात्रा की है, यथा ग्रहणके स्नान हेतु आप सपरिवार कुरुक्षेत्र पधारे थे. तीर्थयात्राका प्रकार है– तीर्थस्थलमें जिस दिन प्रवेश करें उस दिन उपवास करना चाहिए. दूसरे दिन अन्न न प्राप्त हो तो जितनेमें उदरपूर्ति हो जाए, उतने ही अन्न की याचना करनी चाहिए. तीर्थमें दान नहीं लेना चाहिए तथा नित्य पर्यटन करते रहना चाहिए. अधिककाल पर्यन्त एक स्थान पर निवास नहीं करना चाहिए.

सकामोपासना एवं लौकिक फलोंकी प्राप्ति हेतु किये जाते किसी भी साधन–उपासनाको महाप्रभुने कभी भी प्रशंसनीय नहीं माना है, अत: मोक्षप्राप्तिकी इच्छासे किए जाते तीर्थाश्रयके स्वरूपका निरूपण करते हुए आज्ञा करते हैं–

तीर्थादौ अपि या मुक्ति: कदाचित् कस्यचित् भवेत्। कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय:।।
सेवकं कृपया कृष्ण: कदाचिन्मोचयेत् क्वचित्। तन्मूलत्वात् स्तुतिस्तस्य क्षेत्रस्य विनिरूप्यते।।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य दृढविश्वासतो हरिम्। भजेत् श्रवणादिभ्यो यद्विघातो विमुच्यते।।

काश्यादितीर्थेषु मुक्ति: प्रसिद्धा। तत्र अन्ते तारकं ब्रह्म व्याचष्टे इत्यादि वाक्यै: शुद्धानां ब्रह्मोपदेश इति अलौकिकोपदेशसाधकत्वं न व्यभिचरति। तद् आह कदाचित् कस्यचित् भवेत् इति। सर्वेषाम् एव उपदेशोऽस्तु इति चेत् न, इति आह कृष्णप्रसादयुक्तस्य इति। प्रसन्नो भगवांस्तद्द्वारा मोचयति, तीर्थादीनां माहात्म्यार्थं, यथा अजामिलो नाम्ना। अत: प्रसादार्थं प्रेमान्तानि कर्तव्यानि। ननु कदाचित् प्रेमरहितोऽपि तीर्थे सम्यक्प्रकारेण मुक्तिसूचकेन म्रियते, इति चेत्, तत्र नान्यस्य इति। तस्यापि पूर्वमेव साधनसम्पत्ति: सिद्धा वासनावशात् परं प्राकृतत्वं भगवद् इच्छया। तस्मात् न व्यभिचार: इति अर्थ:। तर्हि तीर्थादे: क्व उपयोग:? इति चेत् तत्र आह सेवकम् इति। सेवकम् एव पूर्वं तथाभूतं, तत्रापि कृपयैव, तत्रापि कृष्ण एव। कर्ता, साधनं व्यापारश्च उक्त:। काल–देशौ आह कदाचित् क्वचित् इति। अनेन कालस्यापि ततएव प्रशंसा इति ज्ञापितम्। स्तुतानि तीर्थादीनि भगवद् अंगत्वात् दैत्यकृतविघ्ननाशकानि भवन्ति इति लोकप्रवृत्त्यर्थं मुक्तिसाधकानि इति उच्यन्ते। तत्र स्थित्वा शुद्धे काले साधनानि साधयेत् इति। अत: केवलतीर्थाद्याश्रयं परित्यज्य यथा भगवति स्नेहो भवति तथा यत्नं कुर्यात् इति आह तस्मात् इति। हरिभजनेऽपि कदाचित् मोक्षो न भवेद्! इति आशंका परित्यज्य दृढविश्वासं कृत्वा श्रवणादिभ्यो हेतुभ्य: श्रवणादिभि: भजेत्। ततो विमुच्यत एव इति पुन: उक्तम्। (तत्त्वार्थ.दी.नि.१।४७–४९)

आवरणभंग.टीका– काशीमाहात्म्ये पापिनां भैरवीयातनाकथनात् तत्र देहान्ते तदैवोपदेशमुक्ती न सिद्ध्यत:। किन्तु पातकान्ते शुद्धौ यदा कदापि कस्यचिदेव, न तु सर्वेषाम् अत: भाक्तेत्यर्थ:। ननु भैरवीयातनादिवाक्यानुरोधात् कालसंकोच: अस्तु, परमुपदेशव्यभिचाराभावात् उपदेश्य: किम् इति संकोच्यत इति आशयेन, सर्वेषाम् उपदेशोऽस्त्विति शंकायाम् उपदेश्यसंकोचे बीजं वक्तुम् आहु: सर्वेषाम् इत्यादि। तथा च यद्येवं न स्यात् तर्हि, यमेवैष इत्यादि श्रुति: विरुद्ध्येत। साधनबोधकशास्त्रान्तराणां न वैयर्थ्यं स्यात्। प्रेतादिदर्शनं च तत्र न स्यात्। पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति, इति च विरुद्ध्येत। मोचकसाधनान्तराणां च प्रसज्येत इति अत: अधिकारि निरूपणं न मुधेत्यर्थ:। संकोचे व्यतिरेकव्यभिचारम् आशंक्य समाधिं वक्तुम् आहु: कदाचित् प्रेम इत्यादि। तथा च प्रत्यक्षस्य तात्कालिकार्थविषयत्वेन मूलानवगाहित्वात् न व्यभिचार: शक्यशंक इति भाव:। मोक्षम् इच्छेत् जनार्दनात्, वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य न:, एक एवेश्वर: तस्य भगवान् विष्णुरव्यय: इति वाक्येभ्य: तथा इति अर्थ:।

अर्थ– काशि आदि तीर्थ भी भगवान्‌के अंग होनेसे मुक्ति देनेवाले कहे गए हैं. परंतु भगवानकी भक्तिके बिना यदि मुक्तिदायक नहीं हैं. तीर्थवास करनेवाले जीवमात्रकी भक्तिके बिना ही यदि मुक्ति हो जाती है, तो तीर्थोंमें भूत–प्रेत क्यों दिखाइ देते हैं? तथा यदि काशीजीमें मृत्यु प्राप्त करनेवालेको मुक्ति प्राप्त हो जाती है, तो काशीमाहात्म्यमें लिखा है कि, काशीके पापी जीवोंको मृत्युके बाद भैरव दण्ड देता है, ये बात असत्य हो जाएगी. तथा काशीके जीवोंको मृत्यु पश्चात् शिवजी तारकब्रह्ममन्त्रका उपदेश देते हैं, ऐसा भी लिखा है. उस अलौकिक मन्त्रका उपदेश भी शिवजी सभी जीवोंको नहीं देते हैं. तीर्थवाससे शुद्ध हुए जीवको ही अलौकिक उपदेश दिया जाता है. अत: जिस जीवकी भक्तिसे श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं, उसी जीवको काशी आदि तीर्थोंमें अलौकिक उपदेशके द्वारा मुक्त करते हैं, जैसे नामका माहात्म्य प्रकट करनेके लिए अजामिलको मुक्ति प्रदान करनेका निरूपण श्रीमद्भागवतमें प्राप्त होता है. इसी प्रकार तीर्थस्थानके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए भगवान उपासककी उपासनासे संतुष्ट होकर उसे मुक्ति प्रदान करते हैं. कदाचित् प्रेमभक्तिके बिना किसी जीवकी मुक्तिका वृत्तांत प्राप्त

हो, तो समझना चाहिए कि उसने भक्तिका साधन पूर्वजन्ममें ही कर लिया है. तात्पर्य यह है कि भगवान श्रीकृष्ण कृपा करके अपने सेवकको कदाचित् तीर्थादिकमें मुक्ति देते हैं, जिसके फलस्वरूप उन क्षेत्रोंकी मुक्तिसाधकतया स्तुति की जाती है.

तीर्थकी प्रशंसा करवानेके हेतुसे तीर्थ अपने भक्तको भगवान मुक्ति देते हैं, उसी प्रकार कालकी प्रशंसा करवानेके लिए उत्तरायण आदि कालमें कृपा करके भक्तको मुक्ति प्रदान करते हैं, जैसे दृढ भक्त भीष्मपितामहकी मुक्ति करके उत्तरायण कालका माहात्म्य बढाया. जिन तीर्थोंकी पुराणोंमें महिमा बताइ गइ है, उन तीर्थोंको भगवानके अंग जानने चाहिए. वे तीर्थ भगवानकी भक्तिको बिगाडनेवाले दैत्योंके विघ्नोंको दूर करनेवाले हैं. इसीलिए लोकमें तीर्थोंका प्रचार करनेके लिए तीर्थ मुक्ति देनेवाले हैं, ऐसा प्रचार शास्त्रोंमें किया गया है. अत: तीर्थमें निवास करते हुए शुद्ध कालमें प्रेम-भक्ति साधनोंको साधना चाहिए. कोई पुरुष भक्ति बिना केवल तीर्थादिकोंमें निवास करनेसे ही मेरी मुक्ति हो जाएगी ऐसा समझते हुए भक्ति छोड देते हैं, उन्हें कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता.

भगवानकी भक्तिरहित मुक्ति एवं पापमोचकतासे स्वरूपका निषेध करते हुए आज्ञा करते हैं-

धर्म: सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता। मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि।। (भाग.पु.११।१४।२२)

अर्थ- मेरी भक्तिके अलावा पुरुषके चित्तको सत्य एवं दयासे युक्त धर्म तथा तपस्या सहितकी विद्या भी पवित्र करनेमें समर्थ नहीं है.

निष्काम प्रकारोंके अलावा पापमोचनार्थ, लौकिक फलभोगादि प्राप्त्यर्थ एवं स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिकी इच्छासे किए जाते सकामभावयुक्त तीर्थाश्रय, तीर्थस्नान आदिके प्रकारोंकी आधुनिककालमें निष्फलताका निरूपण करते हुए महाप्रभु आज्ञा करते हैं-

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि। पाषण्डप्रचुरेलोके कृष्ण एव गतिर्मम।
म्लेच्छाक्रान्तेषुदेशेषु पापैकनिलयेषु च। सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम।
गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह। तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम।। (कृष्णाश्रय.१-३)

आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिभेदेन त्रैविध्यं तीर्थादौ अपि अस्ति, तत्र पुरुश्चाधिदैवतम् इति वचनात् भगवद्रूपमेव तीर्थादौ सामर्थ्यरूपेण अस्ति इति मन्तव्यं, तच्च भगवद् इच्छया इदानीं बहुधा तिरोहितं, न तु सर्वथा, अत एवंविधेषु गंगादितीर्थवर्येषु तीर्थमुख्येषु म्लेच्छादिभि: केवलदुष्टै: आवृतेषु सत्सु, इह अस्मिन् भूलोके काले वा कृष्ण एव मम गति: इति। गंगादीनि यादि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टै: आवृतेषु सत्सु, अत: न तै: पुरुषार्थसिद्धि:। ननु कथं दुष्टै: आवृतत्वं तत्र ब्राह्मणादीनाम् अपि सत्त्वात्, न अतिपरिचयाद् अनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतिग्रहाद्पाधिभि: अवस्थानात् च तेषाम् अपि दुष्टत्वम् एव। देवसंसदि विद्यमानं यद् गंगादे: आधिदैविकंरूपं तत् तिरोधानात् शक्तिकौण्ठ्यतात् अवस्थ्यम् इत्यर्थ:। यद्वा तिरोहित आधिर्यस्य तत् तिरोहितादि, ताद्रशं दैवं देवसमूहो येषु इति। तत् तेषां न प्रियं यन्मनुष्या विद्यु: इति विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिण:। विघ्नं कुर्वन्त्ययं ह्यस्मान् आक्रम्य समियात्परम् इति श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्यमुक्ति: तेषां न प्रियेति तन् निवृत्यर्थं वाराहपाद्मादौ मुक्त्यभावाय भगवत्प्रार्थनावत् अत्र तीर्थादौ दुष्टेषु आविष्य प्रतिबध्नन्त: तिरोहिताधयो भवन्त्यत: शक्तिसद्भावेऽपि दोषतादवस्थ्यमत: कृष्ण एव इति।

महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि कलियुगके दुष्प्रभावके कारण देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म, ये धर्मके ६ अंग नष्ट हो चुके होनेसे धर्मकार्य करनेका अभिमान यदि कोई रखता भी हो, तो भी अंतत: वह कार्य अधर्मरूप ही हैं. ऐसे कालमें तीर्थोंका तीर्थत्व जिन अधिदेवोंके कारण माना जाता है, वे अधिदेव ही तिरोहित हो चुके हैं. उन अधिदेवोंके तिरोहित हो जानेके कारण तीर्थोंका आध्यात्मिक एवं आधिदैविक पक्ष ही नष्ट हो चुका है. सभी धर्मस्थान म्लेच्छोंसे आक्रान्त होनेके

कारण सत्पुरुष पीडित हो रहे हैं, ऐसे घोर समयमें तीर्थोंके अधिदेवके आवास योग्य वह स्थान रह ही नहीं गए होनेसे उन स्थानोंमें किए गए स्नान, पूजन आदि किसी भी फल की प्राप्ति करवाने योग्य नहीं रह गए हैं. भक्तिभावपूर्वक इष्टदेवका स्वतंत्र भजन करनेपर अधिदेवकी प्राप्ति संभव है, किन्तु तीर्थस्थानकी आध्यात्मिकता न रह जानेसे वहां किया जाता कोई भी सकाम कार्य निष्फल ही होनेसे तीर्थोंके आश्रय द्वारा उद्धारकी कोई संभावना रह नहीं गई है. आधिभौतिक-आध्यात्मिक एवं आधिदैविक स्वरूपोंका विवेचन करते हुए आप आज्ञा करते हैं-

द्विरूपं चापि गंगावज् ज्ञेयं सा जलरूपिणी। माहात्म्य संयुता नृणां सेवतां भुक्ति-मुक्तिदा।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्। तत्रैव देवतामूर्तिः भक्त्या या द्रश्यते क्वचित्।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेद बुद्धये। प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात् तया जले।।
विहितात् च फलात् तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते। यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।
यथा देवी तथा कृष्णः।। (सिद्धांतमुक्तावली.५-९)

तात्पर्य यह है कि गंगाका जलरूप आधिभौतिक स्वरूप है, जो भौतिक दृष्टिसे ही दृष्टिगोचर होता है. आध्यात्मिक स्वरूप गंगाकी तीर्थरूपता है, जिसकी प्राप्ति माहात्म्यज्ञानपूर्वक शास्त्रप्रोक्त विधि अनुसार उसका पूजन करनेपर होती है तथा मुक्ति एवं भक्ति प्रदान करनेवाला वही गंगाजीका आध्यात्मिक तीर्थरूप है. तीसरा स्वरूप आधिदैविक गंगाजीका देवीस्वरूप है, जिसके दर्शन सभी जीवोंको नहीं होते, किंतु गंगाके प्रति अनन्यभक्ति रखनेवाले भक्तको ही होते हैं. जो जीव गंगाजीके तीनों स्वरूपोंमें अभेदबुद्धि रखते हुए गंगाकी अनन्यभक्ति करता है, उसे यदि आधिदैविक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाए तो उसकी प्रतीति एवं उसे प्राप्त हुआ फल सर्वोत्तम फल है, क्योंकि गंगादेवीकी प्राप्ति हो जानेपर आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप तो स्वतः ही प्राप्त हैं. उसी प्रकार जगत परब्रह्म श्रीकृष्णका आधिभौतिक स्वरूप है, अक्षरब्रह्म आध्यात्मिक एवं परब्रह्म श्रीकृष्ण सभीके अधिदेव हैं. अतः कलिकालमें भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूपके नष्ट हो जानेपर भी आधिदैविक स्वरूप सर्वदा भक्तिभावपूर्वक उपासना करनेवाले भक्तको लभ्य होनेसे देश-कालादि धर्मके षडंगोंके नष्ट हो जानेपर भी प्रमेयरूप भगवानकी प्राप्तिका भक्तिमार्ग कभी नष्ट नहीं होता है.

अतः तीर्थके भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूपोंकी प्राप्तिकी कामना रखनेवाले उपासक कलिकालमें किसी भी फल की प्राप्ति नहीं कर सकते होनेसे महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि अपने इष्टदेवका भजन भक्तिपूर्वक करनेपर जैसे भीष्म, भगीरथ आदि भक्तोंको गंगाजीके आधिदैविक स्वरूपकी प्राप्ति हुई उसी प्रकार शिव-दुर्गा-गंगा आदि अधिदेवोंकी प्राप्ति संभव है, किंतु तीर्थों द्वारा प्राप्त होते फल शास्त्रविधिसे बंधे हुए होनेके कारण धर्मके नष्ट हो जानेपर अप्राप्य ही हैं. शिव-दुर्गा आदि पौराणिक देवताओंकी परब्रह्मतया उपासना करनेवाले उपासकको उनके आधिदैविक स्वरूपोंमें सारूप्य-सार्ष्टि-सामीप्यादि मुक्ति प्राप्त होती है तथा अनन्यभक्ति रखनेवालेके तदाश्रय एवं तदीयतासे प्रसन्न होनेपर देव उनकी लौकिक एवं पारलौकिक कामनाओंको भी पूरी कर सकते हैं, किन्तु शास्त्रविधि आश्रित मार्गों द्वारा फल प्राप्ति कर पाना असंभव ही होनेसे इन सभी मार्गोंकी निष्फलताका निरूपण आपने किया है.

वस्तुतः अन्य सभी देवता परब्रह्म श्रीकृष्णके ही विभूतिरूप होनेसे महाप्रभुने कृष्णभक्तिका ही प्रर्वतन किया है, किंतु तद्-तद् मार्ग एवं उपासना आदिके अधिकारी जीवोंको अपने अपने इष्टदेव द्वारा प्राप्त होते फलोंका विधान आपने किया है. भक्तिमार्गके विषयमें महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि परात्परब्रह्म श्रीकृष्ण किसी भी मर्यादासे बंधे हुए न होनेके कारण सर्वदा-सर्वथा स्वतंत्र हैं. अतः अपने भक्तोंको प्रसन्न होनेपर शास्त्रमर्यादाके पालन एवं भंग द्वारा भी सभी प्रकारके फलोंकी प्राप्ति प्रसन्न होनेपर करते हैं. जैसे ध्रुवको आपने भोग एवं मोक्षकी प्राप्ति करवाइ, व्रजवासियोंको सदेह वैकुंठके दर्शन करवाए, पांडवोंके

धर्मपालनमें सहयोगी रहे, भीष्मको मुक्ति प्रदान की तथा नि:साधन–सुसाधन एवं दुष्टसाधन सभी जीवोंको स्वेच्छया उत्तम फलकी प्राप्ति करवाइ. अत: महाप्रभु आज्ञा करते हैं–

अधुना तु कलौ सर्वे विरुद्धाचार तत्परा:। स्वाध्यादिक्रियाहीना: तथाचारपराङ्मुखा:।
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते। विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता: जिह्वोपस्थपरायणा:।।
व्रात्यप्राया: स्वतो दुष्टास् तत्र धर्म: कथं भवेत्। षड्भि: संपद्यते धर्म: ते दुर्लभतरा: कलौ।।
अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा। श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति।।
सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे। सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव धुवम् फलम्।।
विशिष्टरूपं वेदार्थ: फलं प्रेम च साधनम्। तत्साधनं नवविधा भक्तिसत् तत्प्रतिपादिका।।
मार्गोऽयं सर्वमार्गाणाम् उत्तम: परिकीर्तित:। यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचक: सर्वथा यत:।।
(तत्त्वार्थ.दी.नि.२।२१२–२२१)

अर्थात् कलिकालमें सभी जीव विरुद्धाचारी हैं तथा वेदस्वाध्यय आदि क्रियाओंके प्रति उन्मुख नहीं रहे हैं. शास्त्रीय धर्मोंकी सिद्ध धर्मके षडंगोंके रहनेपर ही सिद्ध हो पाती है, किंतु उनके भी नष्ट हो जानेके कारण सभी जीव व्रात्यप्राय ही हो जानेसे स्वत: ही दुष्ट हैं. एसे कालमें भी धर्ममार्गमें स्थिति तभी संभव है यदि कृष्णकी भक्ति की जाए. वेदके निर्गलित फलस्वरूप श्रीमद्भागवत प्रतिपादित मार्गका अनुसरण करनेपर ही यथा कथञ्चित् किसी जीवका उद्धार संभव है. सभी प्रकारके साधनाभिमानको छोडकर कृष्णमात्रैकमानस हो जानेवाले भक्तको शीघ्र ही भगवान श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो जाती है. वेदार्थरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं फलरूप हैं तथा उनकी प्राप्तिमें प्रेम ही साधन है जिसकी सिद्ध नवधाभक्ति द्वारा होती है. भक्ति सभी मार्गोंमें उत्तम है, क्योंकि इस मार्गके अधिष्ठाता परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं होनेसे पतनका भय नहीं है क्योंकि वे अपने सभी भक्तोंकी सर्वदा रक्षा करते हैं.

भगवान उद्धवजीके प्रति दिए गए भक्तियोगके उपदेशमें आज्ञा करते हैं–

केचिद् यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्। आद्यन्तवन्त एवैषां लोका: कर्मविनिर्मिता:।
दु:खोदर्कास्तमोनिष्ठा: क्षुद्रानन्दा: शुचार्पिता:।
मय्यर्पितात्मन: सभ्य निरपेक्षस्य सर्वत:। मयाऽऽत्मना सुखं यत् तत् कुत: स्याद् विषयात्मनाम्।
अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतस:। मया सन्तुष्टमनस: सर्वा: सुखमया दिश:॥ (भाग.पु.११।१४।११–१३)

भगवान आज्ञा करते हैं कि कर्मयोगी जन यज्ञ, तप, दान, व्रत, यमनियमादि पुरुषार्थोंका उपदेश देते हैं, किंतु ये सभी कर्म हैं. इनके फलस्वरूप जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, वे सभी उत्पत्ति–नाशवाले हैं. कर्मोंका फल समाप्त हो जानेपर उनसे केवल क्लेश ही प्राप्त होता है. अत: हे उद्धव! जो सभी प्रकारसे निरपेक्ष है, किसी भी प्रकारके कर्म तथा उनके फलोंकी जिन्हें आकांक्षा नहीं है, जिन्होंने अपने अन्त:करणको मुझमें समर्पित कर दिया है, उन्हें ही परमानंदरूप मैं आत्मतया स्फुरित होता हुं. उस अनुभूतिसे वे जैसे सुखका अनुभव करते हैं, ऐसा सुख विषयलोलुप प्राणिओंको सर्वथा प्राप्त हो नहीं पाता है. जो सभी प्रकारके संग्रह–परिग्रहोंसे रहित है, अकिंचन है, जिसने अपनी इंद्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त कर ली है तथा शांत एवं समदर्शी है, जो मुझे और मेरे सान्निध्यको प्राप्त करनेसे ही सन्तुष्ट है वह सभी दिशाओंमें आनंदमय है.

उपरोक्त लक्षणोंवाले निर्गुण, निष्काम एवं निरुपाधिक भक्तको किसी भी लौकिक–पारलौकिक फलोंकी आकांक्षा नहीं होती है, तथा ऐसा ही भक्त भागवतमार्ग एवं पुष्टिभक्ति संप्रदायका अधिकारी होनेसे साधनावलंबी उपासक मार्गमें वृणीत एवं अपेक्षित नहीं होनेसे महाप्रभुने तीर्थयात्रा, सेवा, उपासना, नवधाभक्ति, व्रतोपवास आदि सभी साधनोंका अनुष्ठान दैन्यपूर्वक

नि:साधनताभावन करते हुए करनेकी आज्ञा दी है. अत: ऐसे भक्त द्वारा किया गया तीर्थपर्यटन, तीर्थस्नान, आदि सभी साधन विषयोन्मुख न होकर भगवद् व्यासंग, एकांतवास, भगवद्गुणगान, लौकिक प्रतिबंधोंकी निवृत्ति, भगवदीयसंग, लीलावगाहन आदि प्रयोजनोंसे ही होती है.

जैसे विदुरजी द्वारा भगवद्आज्ञासे किये गए तीर्थपर्यटनका वृत्तांत भागवतमें कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है–

स निर्गत: कौरवपुण्यलब्धो गजावह्वयात्तीर्थपद: पदानि। अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्यां स्वधिष्ठितो यानि सहस्त्रमूर्ति:।
पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जेष्वपङ्कतोयेषु सरित्सर:सु। अनंतलिङ्गै: समलङ्कृतेषु चचार तीर्थायतनेष्वनन्य:।
गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्ति: सदाऽऽप्लुतोऽध:शयनोऽवधूत:। अलक्षित: स्वैरवधूतवेषो व्रतानि चेरे हरितोषणानि।
(श्रीभाग.पु.३।१।१७–१९)

अर्थ– वस्तुत: तो विदुरजी कौरवोंके पुण्यसे ही कुरुकुलमें जन्मे थे. वे उस पुण्यको लेकर हस्तिनापुरसे निकले तथा भगवानके चरणरूप तीर्थोंमें कि जहां भगवान हजारो स्वरूपोंसे बिराजमान हैं, ऐसे स्थलोंमें पुण्य करनेकी इच्छासे विदुरजी पृथ्वी पर घूमने लगे. नगरोंमें, पवित्र उपवनोंकी कुंजोंमें, पर्वतोमें, कीचड बिनाके जलाशयों एवं नदियोंमें, जहां जहां अनंत भगवानकी मूतियोंवाले देवालय हैं, उन तीर्थोंमें विदुरजी अकेले ही विचरण करने लगे. पवित्रतापूर्वक एकान्तवास करने लगे, भूमि पर वे शयन करते थे, उन्हें कोई पेहचान न पाए, ऐसे अवधूतवेशमें रहकर भगवान प्रसन्न हों ऐसे व्रतोंको धारण करते हुए घूमने लगे.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य इन श्लोकोंकी सुबोधिनीमें आज्ञा करते हैं–

पुण्यलब्धत्वं भगवत्स्थानगमनेऽपि हेतु:। सर्वतीर्थानि पादे यस्य इति। तस्य स्थानेषु इति तीर्थेष्वपि विशेष:, वैष्णवस्थानेषु एव गत: इति अर्थ:। अन्वाक्रमाद् मध्ये स्थानन् अतिक्रमेण आक्रन्तवान्। राजनिवेशनवद् न स्थानमात्रम्, किन्तु नानामूर्त्या अभिमानेन अनुभावं प्रदर्शयन् स्वयम् अधिष्ठाय येषु स्थित:। तानि तीर्थानि इति पूर्वेण संबंध:। पुण्यचिकीर्षया इति तत्त्वाज्ञानाद् उक्तम्, परमेश्वरप्राप्तिसाधनत्वाद् वा। अथवा उर्व्यां पुण्यचिकीर्षया, पुण्येन पृथिवीं संस्कर्तुम् इति। पुरेषु इति मथुरादिनगरेषु परमेश्वरक्रीडास्थानत्वात्। गोकुलनिकटवृन्दावनानि उपवनानि। अद्रि: गोवर्धनादि:। कुञ्जानि लतागृहा:। सर्वाणि एतानि भगवत्संबंधात् पुण्यजनकान्यपि भक्तिजनकानि। अपङ्तोयेषु इति कृष्णजलक्रीडादियोगेषु सरितां सरस्सु कालियादिह्रदेषु। तेषु पर्यटनं निमित्तम्, अनंतमूर्ते: रासादिक्रीडाचिह्नै: सम्यग् अलंकृतेषु। जलस्थल प्रधानेषु एकाकी चरति स्म इति अर्थ:। अनन्यो भक्तो वा। व्रतानि अन्त:करणसंस्काराणि। एकाकिपरिभ्रमणं भगवत् चरित्रस्य अतिगोप्यत्वात्। एवं दर्शनेन किञ्चिद् भक्त्युत्पत्ते: कृष्णप्राप्त्यभावाद् विरहेण तत्प्राप्तयएव व्रतानि कृतवान्।

अत्र एवं क्रम:। (१) अन्वेषणार्थं प्रथमं पर्यटनं, ततो अन्तर्बहिर्नियमा:, ततोपि व्रतानि। तत्र मेध्ये एकान्ते ध्यानद्यर्थम् उपवेशनादिरूपा स्थिति: यस्य इति। पवित्रैकरात्रान्तरिका आहारादिजीविका यस्य इति वा। त्रिकालस्नान–भूशयनाभ्यङ्ग–वर्जनादय: त्रयो गुणा: दोषत्रयनिवारका:। ननु एवं करणे बन्धुभि: कथं न बद्ध:? तत्र आह अलक्षित: स्वै: इति। तत्र हेतु: अवधूतवेष: कृत्रिमवेषधारी। व्रतानि चत्वारि: (१) एकादश्युपवास:, (२) सर्वभूतदया, (३) यथालाभसन्तोष:, (४) सर्वेन्द्रियोपशमश्च इति। एतानि भगवत् तोष हेतुभूतानि। (श्रीभाग.पु.सुबो.३।१।१७–१९)

महाप्रभु तीर्थपर्यटनके हेतु एवं नियमोंका निरूपण करते हुए उपरोक्त वचनोंमें आज्ञा करते हैं कि–

(१) सर्वप्रथम भगवानको ढूंढनेके हेतुसे गृहत्याग पूर्वक पर्यटन करना चाहिए.
(२) तदुपरांत आंतर एवं बाह्य नियमोंका पालन करना चाहिए तथा उत्तम व्रतोंको धारण करना चाहिए.
(३) पवित्र एकान्त स्थानोंमें प्रभुका ध्यान करनेके लिए रहना चाहिए.
(४) एक दिन छोडकर एक दिन आहारके हेतुसे आजीविका करनी चाहिए.

(५) तीन बार स्नान करना चाहिए.
(६) भूमिपर शयन करना चाहिए.
(७) अभ्यंगादिका त्याग करना चाहिए.
(८) प्रतिबंध निवृत्तिके हेतुसे अवधूतवेश धारण करना चाहिए.
(९) एकादशीका उपवास, सभी प्राणियोंके प्रति दयाभाव, ममत्वरहित प्राप्त हो उसमें संतोष रखना तथा सभी इन्द्रियोंको नीयममें रखना- इन चार व्रतोंको धारण करना चाहिए, क्योंकि इनसे भगवान प्रसन्न होते हैं.

उपरोक्त वचनोंसे तीर्थयात्राके नीयम एवं हेतु स्पष्ट होते हैं. विदुरजी द्वारा उपरोक्त हेतु एवं नीयमपालनपूर्वक की गई तीर्थयात्राके परिणामवश ही उन्हें परमभक्त उद्धवजीका समागम हुआ तथा भगवानकी लीलाओंका भगवदीयके मुखसे श्रवण करनेपर उनकी मुक्ति हुई. विदुरजीके ही समान उद्धवजीने भी भगवानके स्वधान पधारनेके बाद तीर्थाटन किया. भागवतमें निरूपण प्राप्त होता है-

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च। कालेन तावद्यमुनामुपेत्य तत्रोद्धवं भागवतं दर्दश।।
(श्रीभाग.पु.३।१।२४)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके तीर्थपर्यटनके वृत्तांतमें भी आता है कि वे नित्य अपने शिष्योंके भगवत्चर्चा करते एवं श्रवण-कीर्तन-स्मरण परायण होकर कभी कभी लीलारसमें मग्न होकर मूर्छित भी हो जाते. तीर्थपर्यटनके नीयम एवं साधनका उपदेश करते हुए आप आज्ञा करते हैं-

हतत्रप: पठन् नित्यं नामानि च कृतानि च। एकाकी नि:स्पृह: शान्त: पर्यटेत् कृष्णतत्पर:।
देहपातनपर्यन्तम् अव्यग्रात्मा सदा गति:। उत्तमोत्तममेतद्धि पूर्वम् उत्तममीरितम्।

तीर्थप्रवेदशादिवसेतु उपवास:। अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रम् अपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं, न तु तत: अधिकम्। अटनस्य नित्यत्वात् न चिरकालं स्थिति:। उच्चै: नामसंकीर्तनं तत्र अङ्गम्। अन्तर भगवत्स्मरञ्च। एकाकी पर्यटेत्। न अत्र नैक: प्रपद्यताध्वानम् इति स्मृतिदोष:। पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या। शान्तश्च चित्ते भवेत्। ...कृष्ण एव तात्पर्यं न तु तीर्थादौ। देहपातनपर्यन्तं च पर्यटनम् देहान्ते कृतार्थो भविष्यामि इति। सदा शुद्धश्च भवेत्। सन्ध्यावन्दनवत् प्रत्यहं तस्य गमनम्। अस्मिन् पक्षे अन्त: कृष्ण: सर्वदा स्फुरति इति उत्तमोत्तमम्। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२।२४९-२५०)

ऊंचे स्वरसे नि:संकोच भगवानके नामोंका कीर्तन करते रहना तीर्थाटनका अंग है. ह्रदयमें भगवानका स्मरण सर्वदा रखना चाहिए. एकाकी रहना. मार्गमें इन्द्रियोंके विषयभोगोंकी स्पृहा नहीं रखनी चाहिए. चित्तको शांत रखना चाहिए. श्रीकृष्णकी प्राप्तिमें तात्पर्य है, तीर्थादिकोंमें तात्पर्य नहीं है. अत: श्रीकृष्ण मुझे कब दर्शन देंगे, ऐसी उत्कण्ठा सदा तीर्थाटन करते समय रखनी चाहिए. देहपात पर्यंत विचरण करते रहना है. देहपात होनेके बाद मैं अवश्य ही कृतार्थ होउंगा, ऐसा निश्चय करना. सदा शुद्ध रहता, सन्ध्यवन्दनादि जैसे नित्यकर्म हैं, उसी प्रकार तीर्थाटन भी नित्य करते रहना है. इस पक्षमें सदा भगवानका स्मरण ह्रदयमें रहता होनेसे यह पक्ष उत्तमोत्तम है.

⁕साम्प्रदायिक शिष्य हेतु तीर्थाटनका स्वरूप एवं तत्संबंधी आचार्यचरणके निर्देश

पुष्टिभक्तिसंप्रदायमें दीक्षित शिष्यके प्रति निर्दिष्ट साधना महात्म्यज्ञान पूर्विका सुद्रढ सर्वतोधिक स्नेहयुक्त भक्ति है. भगवत्प्राप्ति हेतु प्रथम साधनका उपदेश महाप्रभुने इन वचनों द्वारा किया है-

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता। चेतस् तत् प्रवणं सेवा तत् सिद्ध्यै तनुवित्तजा। (सिद्धांतमुक्तावली.२-३)

भगवद्रूप सेवार्थं तत् सृष्टि: नान्यथा भवेत्। (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद.१२)
निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थिति:। तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु समर्पणम्।। (सिद्धांतरहस्य.४–५)
सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिध्यति तथा कार्यं सम्र्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत:। (सिद्धांतरहस्य.७)
सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:। स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्य: क्वापि कदाचन। (चतु:श्लोकी.१)
बीजदार्ढ्य प्रकारस्तु गृहेस्थित्वा स्वधर्मत:। अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि:।
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा। (भक्तिवर्धिनी.१–२)
श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकै:। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२।२२९)
सर्वथावृत्तिहीनश्चेद् एकं यामं हरौ नयेत्। पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात्। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२।२३२)
स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभि:। एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वाऽपि पूजयेत्। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२।२३७)

उपरोक्त वचनोंमें महाप्रभुने पुष्टिभक्तको अहंता एवं ममताको कृष्ण समर्पित बनाते हुए चित्तको कृष्णप्रवण करनेके हेतुसे अपने घरमें देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण, चित्त, द्रव्य, संपत्ति, परिवार सहित सर्वस्वसमर्पणपूर्विका तनुवित्तजासेवा करनेका उपदेश दिया है. नवधाभक्ति अन्तर्गत श्रवण–कीर्तन–स्मरण रूपा नामभक्ति, पादसेवन–अर्चन–वन्दनके रूपमें बाह्यरूपभक्ति एवं दास्य–सख्य–आत्मनिवेदन द्वारा आंतररूपभक्तिके संपूर्ण प्रकारका समावेश तनुवित्तजा सेवा एवं नित्य भागवतादि भगवत् शास्त्रोंके पठन–पाठन–अध्ययन–चिंतनकेकी दिनचर्याके रूपमें बताया गया है. अत: मुख्य साधनतया गृहत्यागका निरूपण कहीं भी किया नहीं गया होनेसे गृहसेवाके अभावमें तथा अन्य प्रतिबंधोंकी अवस्थामें ही गृहत्याग, संन्यास, तीर्थाटन आदिका उपदेश दिया गया है.

यद्यपि गृहसेवा सहित प्रसंगवश भगवद्गुणगानादिके हेतुसे किये जाते तीर्थाटनका निषेध भी नहीं है, अपितु विधान भी नहीं है. क्योंकि पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णके घरमें ही बिराजनेपर भगवत्स्थान छोडकर अन्य स्थानपर जानेकी भक्तको आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती. महाप्रभुकी शिष्या रुक्मिणी गंगाके तटपर ही निवास करती होनेपर भी स्वगृहमें सेवा परायण होनेके कारण अनेक वर्षों तक गंगास्नानके लिए भी अपने घरसे बाहर नहीं आइ! ऐसी कृष्णासक्ति एवं भगवद् निरोध ही भक्तिमार्गमें अपेक्षित है. किन्तु व्रजमंडल तथा अन्य कृष्णतीर्थोंमें पर्यटन सेवापरायण भक्तके लिए विहित भी नहीं है, तथैव निषिद्ध भी नहीं है. यद्यपि परंपरामें अनेक सांप्रदायिक भक्तोंके वृत्तांत प्राप्त होते हैं, जिन्होंने परिवारके लोग अनुकूल न होनेपर सेवापरायण जीवन बितानेके लिए तीर्थवास किया हो, उसी प्रकार भगवदीयताका माहौल प्राप्त करनेके हेतुसे संगी वैष्णवोंके साथ सेवा समेत तथा सेवारहित भी कुछ कालपर्यंत तीर्थवास किया है. ये सभी प्रकार सम्प्रदायमें मान्य रहे हैं, एवं अविरुद्ध होनेसे स्वीकृत भी हैं. सिद्धांतत: महाप्रभुने सेवाके अनुकल्पतया तीर्थाटनका उपदेश निम्नोल्लिखित प्रसंगोंमें दिया है.

(१)**ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु। मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्पर:। (सिद्धांतमुक्तावली.१७)**

ब्रह्मस्वरूपज्ञान, जीवस्वरूपज्ञान, अनन्यरति तथा तदनुकूलक्रियावान् भगवद्भक्त भक्तिमार्गमें उत्तमाधिकारी माना गया है. पुष्टिजीवके तीन प्रकारोंमें गुणज्ञ भक्त मर्यादामिश्र पुष्टिभक्त कहा गया है तथा प्रेमयुक्त भक्त पुष्टिपुष्टि जीव कहा गया है. महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि महात्म्यज्ञानके अभावमें पुष्टिपुष्टिजीवको पूजा–उत्सव परायण रहना चाहिए तथा मर्यादामिश्र पुष्टिजीवको गंगा आदि तीर्थस्थानमें रहकर भागवत परायण रहना चाहिए. भागवतके नित्य अवगाहनसे महात्म्यज्ञान तथा स्नेहकी प्राप्ति हो जानेपर मध्यमाधिकरी भक्त उत्तमाधिकार प्राप्त करता है.

(२) **ताद्रस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्। त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानस:।**

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दु:संसर्गात् तथान्नत:। अत: स्थेयं हरि:स्थाने तदीयै: सह तत्परै:।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति। सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर् द्रढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम। बाधसम्भावनायान्तु नैकान्ते वास इष्यते। (भक्तिवर्धिनी.६-९)

भक्तिमार्गीय जीवको साधनोपदेश महाप्रभुने व्यावृत्तजीव तथा अव्यावृत्त जीवके भेदसे किया है. व्यावृत्त पुष्टिभक्तको महाप्रभु श्रवण-कीर्तन-स्मरण परायण रहनेकी आज्ञा देते हैं, तथा अव्यावृत्त पुष्टिभक्तको सेवापरायण रहनेकी आज्ञा दी है. सेवा-कथा उभयपक्ष अथवा मात्र कथापक्षका अनुसरण करते हुए भी भक्त प्रेमासक्तिव्यसनकी अवस्थाओंको प्राप्त करते हुए भक्तिकी वृद्धि करता है. कथापक्ष परायण भक्तको बीजभावके दृढ हो जानेके उपरांत गृहत्यागकी आज्ञा दी गइ है, क्योंकि अवैष्णवीय परिवारमें रहनेवाले भक्तका भगवद्भाव नष्ट हो सकता होनेसे त्यागका विधान किया गया है. गृहत्याग करनेपर संगदोष एवं अन्नदोषकी संभावना होनेसे महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि हरिस्थानमें निवास करना चाहिए, जहां भगवत्प्रसाद सुलभतासे प्राप्त हो जाए तथा भगवदीयोंका संग प्राप्त होनेसे संगदोषकी संभावना न रहे. भगवदीयोंका संग विवेकपूर्वक करना चाहिए, कि जिससे भगवदीयोंमें दोषदृष्टि भी न हो तथा उनसे प्राप्त होते भगवद्गुणगानसे भी वंचित न रह जाएं. इस प्रकार आजीवन भगवद्भावको बनाए रखनेमें प्रयत्नशील जीवके भगवद्भावका कभी नाश नहीं होता है, किन्तु अपरिपक्व अवस्थामें त्याग एवं एकान्तवास न करनेकी आज्ञा दी गइ है.

(३)**अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद् विचारणा। श्रवणादि प्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश् चेत् स नेष्यते।**
सहाय संग साध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात्। अभिमानात् नियोगात् च तद् धर्मैश्च विरोधत:।
गृहादे: बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि। अग्रेऽपि ताद्रशैर् एव संगो भवति नान्यथा।
स्वश्च विषयाक्रान्त: पाषण्डी स्यात् तु कालत:। अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्याग: सुखावह:। (संन्यासनिर्णय.४-५)

भक्तिमार्गीय संन्यासके प्रकारका निरूपण करते हुए महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि प्रतिकूल अथवा उदासीन माहौलमें रहनेवाले भगवद्भक्तको यदि एसा विचार आए कि भगवद्भजनकी सिद्धिके लिए वह गृहत्याग करे तो संभवित दोष एवं संभावनाओंका निरूपण आपने करते हुए अपरिपक्व अवस्थामें किये जाते त्यागका निषेध किया है. संन्यास ग्रहण करनेपर संग एवं संग्रह बाधक होनेसे भगवद्भजनकी सिद्धि नहीं हो सकती है तथा गृहत्याग करनेपर स्वयं भी विषयाक्रान्त होनेसे समान प्रकारके जीवोंका संग होनेपर भगवद्भावके ह्रास होनेकी संभावनाका निर्देश करते हुए आपने भक्त्यर्थ संन्यासका निषेध किया है.

(४) **विरहानुभवार्थन्तु परित्याग: प्रशस्यते। स्वीय बंध निवृत्त्यर्थं वेश: सोऽत्र न चान्यथा।**
कौण्डिन्यो गोपिका: प्रोक्ता: गुरव: साधनं च तद्। भावो भावनया सिद्ध: साधनं नान्यद् इष्यते।
भगवान् फलरूपत्वात् नात्र बाधक इष्यते। ...दुर्लभोऽयं परित्याग: प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा। (संन्यासनिर्णय.७-१३)

व्यसनावस्थाके सिद्ध हो जानेके बाद भगवानके विरहका अनुभव करनेके लिए किये जाते त्यागकी महाप्रभु प्रशंसा करते हैं. भक्त्युत्तर संन्यासके साधनोंका निरूपण करते हुए आप आज्ञा करते हैं कि परिवारजनोंके द्वारा होते प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिए संन्यासीवेश धारण किया जा सकता है, किंतु आवश्यक नहीं है. कौण्डिन्यऋषि एवं गोपिकाएं इस संन्यासमार्गमें गुरु हैं. उनके भावका भावन ही संन्यासमार्गमें साधन है, अन्य कोई साधन अपेक्षित नहीं है. भगवान स्वयं ही फलके रूपमें प्राप्त होते हैं. ऐसा परित्याग दुर्लभ है तथा भगवानके प्रति उत्कट प्रेमके अलावा अन्य किसी भी प्रकारसे भक्तिमार्गीय संन्यासमें सिद्ध प्राप्त कर पाना संभव नहीं है.ऐसे त्यागी व्यसनी भक्तके हृदयमें विरहानुभवकी चरम अवस्थामें भगवद्आविर्भाव होनेपर भगवद्सायुज्यरूपी उत्तमफलकी प्राप्ति करता है.

(५)**भार्यादीरनुकूलश्चेत् कारयेत् भगवत्क्रियाम्। उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्।**

तत् त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखा:। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२।२३१)

परिवारके सदस्य अनुकूल होनेपर उन्हें भगवत्सेवामें सम्मिलित करना चाहिए, उदासीन होनेपर स्वयं सभी परिचर्या यथाशक्ति करनी चाहिए तथा प्रतिकूल होनेपर बहिर्मुख होनेसे उनका त्याग करनेमें भी दोष नहीं है. गृहत्यागके बाद शून्य देवालयमें अथवा किसी भी एकांतस्थानमें रहकर यथाशक्ति भगवत्परिचर्या करनी चाहिए, किन्तु अवैष्णवोंका सहवास भगवद्भावका विघातक तथा उद्वेग करवानेवाला होनेसे उनका त्याग ही उत्तम प्रकार है.

(५) **विक्षेपाद् अथवा शक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित्। अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसम्भवे।**
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा।...देहपातनपर्यन्तम् अव्यग्रात्मा सदा गति:।
उत्तमोत्तममेतद्धि पूर्वम् उत्तममीरितम्। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२४७–२५०)

महाप्रभु उपरोक्त वचनमें गृहस्थको किन परिस्थितियोंमें सेवाका त्याग करते हुए तीर्थाटन करना चाहिए उनका निरूपण आचार्यचरण आज्ञा करते हैं. दोष पांच हैं– (१) इन्द्रियोंकी सेवामें स्वत: प्रवृत्ति न होनेपर चित्तमें विक्षेप होनेपर सेवाका त्याग करना चाहिए. (२) वृद्धावस्थामें अथवा रोगके कारण सेवा योग्य सामर्थ्य न रह जानेपर सेवाका त्याग करना चाहिए. (३) परिवारके सदस्यों द्वारा विघ्न होनेपर उद्विग्न चित्तसे सेवा न करते हुए सेवाका त्याग करना चाहिए. (४) अत्याग्रहवशात् अज्ञानरूपी अंधकारसे बद्ध मनुष्य भगवद्स्मरण योग्य भी न रह जाए तो, ऐसी परिस्थितिमें सेवाका त्याग करना चाहिए. (५) सेवाकर्ता द्वारा होती परिचर्याके कारण यदि परपीडा होती हो तो सेवाका त्याग करना चाहिए. उपरोक्त पांचों परिस्थितियोंमें सेवाके त्यागपूर्वक तीर्थपर्यटनका उपदेश महाप्रभु देते हैं. येनकेन प्रकारसे चित्तमें भगवद्भावको बनाए रखनेका प्रयास जीवको करते रहना चाहिए.

(५)**जगन्नाथे विठ्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा। यत्र पूजाप्रवाह: स्यात् तत्र तिष्ठेत् तत्पर:। (तत्त्वार्थ.दी.नि.२५५)**

कथापक्ष परायण भगवद्भक्तको महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि जिन स्थानोंमें मर्यादामार्गीय प्रकारसे नित्य पूजाप्रवाहका प्रकार चलता हो, ऐसे महात्म्यशाली तीर्थोंमें भक्तको निवास करते हुए यथाधिकार सेवा–परिचर्या–भगवदीयोंका संग, भगवद्गुणगानादि परायण रहना चाहिए.

उपरोक्त वचनोंसे स्पष्ट होता है कि तीर्थाटन भक्तिसम्प्रदायमें सेवा–भक्तिका विकल्प नहीं, अपितु अनुकल्प ही है. प्रथम साधन तो सर्वथा–सर्वदा तनुवित्तजासेवा ही है. सेवाकी अनुकूलता प्राप्त न होनेपर भगवद्भावको बनाए रखनेके लिए जीवको तीर्थाटनादि द्वारा भगवदीयोंका संग प्राप्त होता है, तथा चित्तमें होती विषयलोलुपता एवं असत्संगसे बचा जा सकता है. अत: तीर्थाटनका एकमात्र प्रयोजन भक्तिसंप्रदायमें भगवद्भावकी वृद्धि, भगवदीयोंका संग एवं भगवत्परायणता ही होनी चाहिए.

⁂उपसंहार

भक्तिमार्गीय जीवका एकमात्र लक्ष्य भगवद्प्राप्ति एवं भगवत्परायणता है. ऐसे भगवद्भक्तके लिए भक्तिवृद्ध्यर्थ प्राप्त होते सभी साधन वांछनीय होते हैं, एवं भगवद्बहिर्मुख करनेवाले व्यक्ति एवं साधन सर्वथा त्याज्य. भगवद्भक्तके लिए सेवा–कथा–गुणगानादि दिव्य आराधना हैं, जिनमें सकामता, सगुणता एवं सोपाधिकताका स्पर्श भी भगवद्भावका विनाशक सिद्ध होता होनेसे दीनतापूर्वक अभिमान, साधनाभिमान, अत्याग्रहादि सदोषभावोंके त्यागपूर्वक किए गए सभी साधन भगवद्भावके उद्दीपक सिद्ध होते हैं. भगवद्भक्तके लिए तो किसी भी स्थानपर प्राप्त होता भगवद्संग एवं भगवदीयसंग ही तीर्थरूप सिद्ध हो जाता है,

एवं अपने ह्रदयमें रहे भगवद्भाववश भक्त स्वयं अपने आपमें कोटितीर्थोंको पवित्र करनेवाले सिद्ध होते हैं. भगवान श्रीकृष्ण उद्धवजीके प्रति भक्तियोगके महात्म्यका निरूपण करते हुए आज्ञा करते हैं–

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्हं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।।
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्। भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकान् अपि सम्भवात्।
वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।
(भाग.पु.११।१४।१६,२१,२४)

अर्थ– जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो प्रपंचको भूलकर मेरे ही मनन एवं चितंनमें लीन रहते हैं, तथा किसीके प्रति राग–द्वेष न रखते हुए सभीके प्रति समान द्रष्टि रखता है, ऐसे भक्तके पीछे पीछे मैं घूमता रहता हुं, कि जिससे उनके चरणोंकी घूल उडकर मेरे उपर आ जाए तो मैं पवित्र हो जाउं. मैं भक्तोंका प्रियतम आत्मा हुं. मैं अनन्य भक्ति एवं श्रद्धासे ही वश होता हुं. मुझे प्राप्त करनेका यही एकमात्र उपाय है. जो जन्मसे चांडाल हो, उन्हें भी मेरी भक्ति पवित्र कर देती है, तथा वे अपने जातिगत दोषोंसे भी मुक्त हो जाते हैं. हे उद्धव! जिनकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर भक्तिके प्रवाहमें बह रहा है तथा एक क्षणके लिए भी जिसका रुदन रूकता नहीं है, कभी कभी हंसने लगता है, कभी रोने लगता है, कभी नाचने लगता है. मेरा ऐसा भक्त मात्र अपनेआपको ही नहीं, अपितु समग्र संसारको पवित्र कर देता है.

भगवानके इन्हीं वचनोंका अनुवाद करते हुए महाप्रभु आज्ञा करते हैं–

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्।।

अर्थ– प्रपंचविस्मृति पूर्वक हुई भगवदासक्तिसे श्रेष्ठ कोई मंत्र, स्तोत्र, विद्या एवं तीर्थ नहीं है.

इति